

विचार का सृजन-पक्ष  
और भीष्म साहनी  
डॉ. प्रोमिला

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,  
अंग्रेजी एवं विदेशी भाषा  
विश्वविद्यालय, हैदराबाद

‘विचारधारा तभी लेखक को निर्दिष्ट करती है जब वह लेखक के संवेदन का, उसके रचनात्मक व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाये।’

‘यदि विचारधारा मन पर बोझ बनकर आये और किन्हीं नपे-तुले फार्मुलों के तहत उसे लिखने पर मजबूर करे, तो यह उसके लिए बड़ा हानिकारक होगा।’

रचनात्मक स्वतन्त्रता की आकुल आकांक्षा और वैचारिक प्रतिबद्धता के सम्बन्ध पर ऐसी स्पष्ट दृष्टि रखने वाले भीष्म साहनी ने लगभग चार दशकों तक हिन्दी कहानीकारों के मध्य अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज करायी। साहनी एक ऐसे समय के साक्षी बने जब आये दिन सामाजिक, आर्थिक उठापटक के बीच वैश्विक पटल पर मनुष्य, कला, साहित्य, इतिहास, आलोचक, पाठक और यहाँ तक कि लेखक के अन्त तक का प्रलाप उभर रहा था। परवर्ती पूँजीवाद से जन्मे उत्तर-आधुनिकता के नये विकल्प के अन्तर्गत, दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात अमेरिकी समाज वैज्ञानिकों ने विचार के अन्त की घोषणा कर दी थी। पूँजीवाद की प्रकृति में परिवर्तन, श्रमिकों की लोकतान्त्रिक भागीदारी और कल्याणकर योजनाओं की दुहाई देकर अविचारधारा-करण और विचारधारा की गोधूली बेला

जैसे शब्द सामने आ रहे थे। जनता के पूँजीवाद और मानवीय चेहरे वाले समाजवाद की चर्चाएँ जोरों पर थीं। 1960, 1969 में डेनियल बेल तथा एस. एम. लिपसेट ने अपनी पुस्तकों द एंड ऑफ ओडियोलोजी (1960) और पोलिटीकल मैन : द सोशल बेसिस ऑफ पोलिटिक्स (1969) में वैचारिक मतभेद की समाप्ति के बड़े-बड़े दावे किये जा रहे थे। किन्तु महत्त्वपूर्ण है कि इन सबके बावजूद ठीक इसी समय दुनिया में विचारधारा का महत्त्व भी कायम था। समाज से साहित्य तक सर्वहारा की प्रगति को सुनिश्चित करने हेतु विचारधारा प्रभावकारी अस्त्र की भूमिका निभा रही थी। यदि कभी मार्क्स और एंगेल्स ने धर्म और दर्शन की चर्चा के सन्दर्भ में ('जर्मन विचारधारा' पुस्तक में) विचारधारा को भ्रमित करने वाली चेतना बताया था तो दूसरी ओर ('राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान' पुस्तक में) इसे ऐतिहासिक-सामाजिक चेतना भी माना था। पर जहाँ तक प्रश्न साहित्य और विचारधारा के सम्बन्धों का है। इस पर विचार करते हुए अमेरिकी मार्क्सवादी समीक्षक एडमंड विल्सन (1895-1972) ने 'द ट्रिपल थिंक्स के मार्क्ससिज्म एंड लिटरेचर' निबन्ध में लिखा था कि "यदि कोई विचारधारा रचना में आती है तो वह लेखक की भावना और संवेदना का अंग बनकर ही आ सकती है। क्योंकि कला और साहित्य कोई राजनीतिक दस्तावेज नहीं हैं।"² यहाँ अहम बात यह है कि भीष्म साहनी भी अपने पूर्ण रचना-कर्म में विल्सन की बानी-बोली अपनाते हुए नजर आते हैं। इनका विचार है कि "कहानी में, उपन्यास में, साहित्य में सामान्यतः विचार की भूमिका जरूर होती है। लेखक की विचारधारा-लेखन की दृष्टि बनाते हैं और उस दृष्टि के आधार पर वह न केवल अपनी कच्ची सामग्री उठाता है बल्कि उसी चयन के आधार पर वो अपनी रचना भी करता है।"³

निःसन्देह अपने समय और समाज से सम्पर्क होना साहित्य और साहित्यकार की वह अन्तरंग अनिवार्यता है जो साहित्य को स्वरूप और स्वभाव प्रदान करती है। किन्तु यह उसके अस्तित्व की शर्त है, मूल्यवता या मूल्यांकन का अन्तिम प्रमाण नहीं। प्रश्न मात्र यह नहीं कि साहित्य या उसकी कोई विधा जैसे कहानी अपने समय या समाज से सम्बद्ध है या नहीं। न ही प्रश्न बदली परिस्थितियों में उसकी प्रासंगिकता का आता है बल्कि प्रश्न उस समझ-बूझ का उठता है कि कैसे अपने समय, समाज में गहरी धंसी होने पर भी कोई कहानी उसका अतिक्रमण करती है। एक ही क्षण में कैसे वह तात्कालिकता की पकड़ से परे हो जाती है। साहनी की 'वांगचू' कहानी इसका सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करती है। कहानी का प्रथम पुरुष वाचक कहता है— "खाना खाने के बाद हमारे बीच बहस छिड़ गयी—सामाजिक शक्तियों को समझे बिना तुम बौद्ध धर्म को भी कैसे समझ पाओगे? ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र एक-दूसरे से जुड़ा है, जीवन से जुड़ा है। कोई चीज जीवन से अलग नहीं है। तुम जीवन से अलग होकर जीवन को भी कैसे समझ सकते हो?"

“कभी वह मुस्कराता, कभी सिर हिलाता और सारा वक्त दार्शनिकों की तरह मेरे चेहरे की ओर देखता रहा। मुझे लग रहा था कि मेरे कहे का उस पर कोई असर नहीं हो रहा, कि चिकने घड़े पर मैं पानी उड़ेले जा रहा हूँ।”<sup>14</sup>

जीवन की सामाजिक शक्तियों को समझने की आवश्यकता वाला भीष्म साहनी का यह चिन्तन एक ही स्तर पर विचारधारा की बुनावट, कहानी की शाश्वता और द्वन्द्वात्मक संघर्ष जो स्थितिगत टकरावों से चरित्र को बदलता, वस्तु को आगे बढ़ाता है, को स्थापित कर देता है। और यही वह बिन्दु है जहाँ रचना तात्कालिकता से निकल शाश्वता की दुनिया में प्रविष्ट हो जाती है। रचनाकार स्वयं प्रकाश भी इसी सार्थकता की परिभाषा देने में क्रम में कहानी ‘एक यूँ ही मौत’ में दुनिया को बदलने की राजनीति में शामिल होने को पूर्व शर्त ठहराते हैं। और यहाँ जीवन या दुनिया का अर्थ अपने आस-पास यानी दैनिक जीवन की छोटी-छोटी सच्चाइयों के प्रति जागरूक होने से और उनके विरुद्ध आवाज उठाने से ही ठहरता है। दोनों लेखक कच्चे माल की मैन्यूफैक्चरिंग मेहनत और धैर्य के साथ करते हैं। पर भीष्म साहनी इसमें दक्ष हैं। सामान्य-सी कथा स्थितियों, परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से जीवन का अनचीन्हा, बेपहचाना, दबा मार्मिक पहलू अनायास पाठक के समक्ष उभर आता है। न विचारधारा की नगाड़ सुनाई पड़ती है, न घटनाओं का चमत्कार दिखता है। टेरी ईगलटन ने लिखा है— “विचारधारा जिन स्थितियों का विश्लेषण करती है, साहित्य उनके बीच जीवित रहने के अनुभव का चित्रण करता है।”<sup>15</sup> यही भीष्म साहनी जैसे साहित्यकार का युग-बोध है। स्थितियाँ हों या व्यक्ति, भीतरी तहों को अनावृत्त करने या गहराई में धंस पाने की रचनात्मक क्षमता ही उसे सजीव बनाती है और ऐसे में विचारधारा कोई राजनीतिक दलबद्धता मात्र नहीं वस्तुतः जीवन-पद्धति का पर्याय बन जाती है।

“लेखक जीवन की परतों को हमारे सामने खोलता है, एक नजरिया देता है, समाज के भीतर सक्रिय शक्तियों की भूमिका समझने में मदद देता है। हमें सजग और सचेत करता है। और इस तरह साहित्य अपनी सामाजिक भूमिका निभाता है।”<sup>16</sup> पर ठीक इसी स्थान पर एक अन्य दबाव उभरता है। रचनाकार जिन शब्दों में अपनी विचारधारा को जानता है, वे स्वयं उसके लिए चाहे जितने सहज हों, उसके पात्रों के लिए भी स्वाभाविक बन पड़े ऐसा आवश्यक नहीं होता। शब्द से तात्पर्य केवल अर्थ नहीं, उसका मन्तव्य भी है। सामान्यतः पात्र की वैयक्तिक, सामाजिक और ऐतिहासिक स्थिति से उसका संज्ञान, बोध आकार ग्रहण करता है। रचना में विचारधारा के परिप्रेक्ष्य को शामिल करने के लिए ऐसी युक्तियों की तलाश अनिवार्य है जो विचारधारा के निर्वाह के साथ पात्र को उसके आपे में सुरक्षित रख सकें। ‘भाग्यरेखा’ में दमे का रोगी, जाते हुए जुलूस को देखकर अपनी कटी उँगलियों वाली हथेली ज्योतिषी के सामने फैलाकर कहता है— ‘फिर देख साले, तू कैसे कहता है कि भाग्यरेखा कमजोर है?’ प्रथम संग्रह की इस कहानी में भी राजनीतिक पक्षधरता के बावजूद

पात्र का परिवेश और उसका विचार जगत थोपता हुआ प्रतीत नहीं होता। किन्तु भविष्य में साहनी इसके प्रति और अधिक सचेत दिखते हैं। वामपन्थी विचारधारा को स्वीकारते हुए, वे उसके प्रति आलोचनात्मक विवेक रखकर ही अपनी रचनात्मक स्वतन्त्रता और प्रतिबद्धता के युगपद का निर्वाह करते हैं।

सामान्यतः भीष्म साहनी को मध्यवर्ग या निम्नमध्यवर्ग के समर्थ रचनाकार के रूप में अभिहित किया जाता है। किन्तु जैसा कि अमरकान्त लिखते हैं— ‘किसी भी रचनाकार को एक वर्ग तक ही सीमित करके उसका मूल्यांकन करना उसकी क्षमता एवं उसके प्रभाव को सीमित करके देखना होगा। यदि किसी लेखक की रचनाओं से मध्यवर्गीय मानसिकता को ही गौरवान्वित किया गया है तो उसे मध्यम वर्ग का रचनाकार कहा भी जा सकता है। पर मध्यवर्गीय परिवेश की रचनाओं में यदि व्यापक जनसमुदाय की आशा-आकांक्षाओं, उसके दुःख, पीड़ा, अभाव, उसके संघर्ष एवं उसकी विडम्बनाओं के प्रामाणिक चित्र मिलते हैं तो उस रचनाकार को सीमा में बाँधना उचित नहीं है।’<sup>8</sup> ‘भाग्यरेखा’ (1953) से लेकर ‘डायन’ (1998) तक नौ कहानी-संग्रहों तथा अन्य तीन संचयनों को मिलाकर, भीष्म साहनी की बारह पुस्तकों में किसी क्षेत्र या वर्ग-विशेष का नहीं, भारतीय समाज के अंग-प्रत्यंग का रेशा-रेशा अभिव्यक्ति पाता है। पहली कहानी ‘नीली आँखें’ से लेकर गिरिराज किशोर की ‘अकार’ पत्रिका के जुलाई 2003 अंक में प्रकाशित अन्तिम कहानी ‘आई गई बात’ तक के बीच से एक कोटि उन कहानियों की आती है, जिनमें बिल्कुल सामान्य जनपद और प्रतिष्ठा की दृष्टि से निम्न श्रेणी के जीवन-यथार्थ को सहजता और स्वाभाविकता से उभारा गया है। ये कहानियाँ साहनी की प्रतिबद्धता के रचनात्मक कौशल को उद्घाटित करती हैं।

‘साग-मीट’, ‘पिकनिक’, ‘राधा अनुराधा’, ‘त्रास’, ‘खूँटे’, ‘अनूठे साक्षात’ की दो कहानियों ‘धर्मो’ और ‘बनारस’ आदि में पूँजी की नींव पर रचे गये वर्ग विभाजित समाज में फैली कुटिलता, अमानवीयता और घृणा को अभिव्यक्ति मिलती है। ‘साग-मीट’ कहानी अफसर के छोटे भाई द्वारा रसोइये जग्गे की नवेली दुल्हन के साथ किये गये दुराचार से आहत होकर, मौन प्रतिरोध के रूप में जग्गे की आत्महत्या करने के सन्त्रास को शब्द देती है। अभिजात की कुटिलता के समक्ष सर्वहारा की सरल, निरीह, निष्कपट सेवा-भक्ति, उसके ठगे जाने का परिणाम तय कर देती है। ‘त्रास’ कहानी एक्सडेंट करके एहसान जताने वाले मोटर मालिक के सामने छाती पर हाथ बाँधे, श्रद्धा से सिर हिलाते साइकिल चालक की बेचारगी, विवशता तथा उसके भोलेपन को उभारती है। किन्तु इन दोनों का यह ठगा जाना भी वस्तुतः ठगा जाना नहीं है, वरन् शेष कुटिल दुनिया को बेनकाब करना है। इस आलोक में भीष्म साहनी सो-कॉल्ड सुसभ्य, सुसंस्कृत मानवीय अमीरों के आत्मकेन्द्रित, कुटिल खोखलेपन को प्रत्यक्ष करने का काम लेते हैं। अन्य कहानी ‘पिकनिक’ में भी कथा

शहरी घरों में दाई का काम करके जीवन-निर्वाह करने वाली गौरी के मार्फत धन पर फलते-फूलते समाज की भीतरी धातु का परिचय देती है। काम पर माँ के साथ आये बच्चों को भगाने के लिए शहरी मुहल्ला बैठने तक का स्थान देने की मानवीयता नहीं जुटा पाता, उल्टे बच्चों को भगाने हेतु कुत्तों तक का प्रबन्ध कर लेता है। परन्तु विचारणीय पक्ष यह है कि यह कहानी यहीं खत्म नहीं होती 'साग-मीठ' का मौन प्रतिरोध, 'त्रास' की बेचारगी, वहाँ कुछ शब्द तलाश लेते हैं, जहाँ वकील की पत्नी के सामने गौरी तनकर खड़ी होती है और कहती है— 'उठवाकर देख लो देखें तो कौन हमें उठवाता है।' पर अन्त में गेट पर बँधे कुत्ते को देखकर वह समझ जाती है कि 'यहाँ भी अब उसके लिए ठौर नहीं है।'<sup>9</sup> अत्यन्त सामान्य घटनाओं के घात-प्रतिघात से जीवन-संघर्ष और जिजीविषा के गूढ़ आशयों की यही पहचान भीष्म साहनी को नये कहानीकारों में विशिष्ट बना देती है। जहाँ प्रेमचन्द यथार्थ का सृजन करते दिखाई देते हैं, वहाँ साहनी यथार्थ की दुरूह जटिलताओं को परत-दर-परत बाँचते हैं। प्रेमचन्दीय किस्सागोई परम्परा को सहेजते हुए, वे अपना नितान्त निजी मुहावरा गढ़ते हैं। फार्म की तीन पाँच में पड़े बिना गहरे यथार्थबोध की नींव पर कहानी की सार्थकता को निर्धारित करते हैं। पात्र को पृष्ठभूमि और परिवेश के सन्दर्भ सहित उसकी सामान्यता में पेश करते हुए, अपने मन्तव्य को सम्प्रेषित करते हैं। इनकी कहानियाँ वर्ग-विशेष के अधःपतन को उजागर करने के अतिरिक्त आन्तरिक जद्दोजहद से गुजरती मनुष्यता से संघर्षपूर्ण सौन्दर्य को भी उपस्थित करती हैं। मैक्सिम गोर्की के अनुसार, 'समाजवादी यथार्थवाद का पक्षधर लेखक मानव को किसी चित्रकार की भाँति निष्क्रिय रूप में चित्रित नहीं करता। वह उसे अनवरत रूप से गतिशील, क्रियाशील तथा आपस में अन्तहीन संघर्ष, वर्ग-संघर्ष, दलगत संघर्ष और व्यक्तिगत संघर्ष में जुटा हुआ चित्रित करता है।' (हिन्दी आलोचना के नये वैचारिक सरोकार, कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 139) इसी समाजोन्मुख यथार्थवाद को अपने काल की प्रमुख धारा बताने वाले साहनी 'अपने-अपने बच्चे' कहानी में मानवीय सम्बन्धों की एक और बानगी गढ़ते हैं। माया कुयूत्स्काई की पुस्तक 'ओल्ड एंड न्यू' की सम्यक व्याख्या करते हुए एंगेल्स ने 26 नवम्बर, 1885 को लिखे पत्र में कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति 'टाइप' है और साथ ही अपना अलग व्यक्तित्व भी रखता है।<sup>10</sup> यही स्थिति साहनी के यहाँ दिखती है। मीना जिसका पति किसी दूसरी औरत के साथ भाग गया है, के शरारती बच्चे निक्कु के प्रति मालिक और मालकिन हमदर्दी का व्यवहार तो रखते हैं पर निक्कु की शैतानियों के कारण कहानी का अन्त नहीं बदलता। एक दिन तनख्वाह मुट्टी में भींचे, निक्कु का हाथ थामकर माया को घर से जाना पड़ता है। मालिक के प्रति बिना किसी तीखे सवाल या संवाद की प्रविधि के कहानी सत्ता की गहन अर्थ-व्यंजना को शब्द देती है। आर्थिक सम्बन्धों के मध्य यहाँ जीवन विवेक का भी प्रश्न उभरता है।

सहिष्णुता-असहिष्णुता के इस दौर में जहाँ खाने का कौर जान का दुश्मन साबित हो रहा है। भीष्म साहनी की कई कहानियाँ धर्मान्धता और दर्शान्धता के गूढ़ रूपों को मार्मिकता के साथ सामने लाती हैं। 'मालिक का बन्दा', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'भगोड़े', 'पहला पाठ', 'पाली' के अतिरिक्त 'अमृतसर आ गया है', इनकी अत्यन्त चर्चित कहानी है। साम्प्रदायिकता के प्रतिरोध पर लिखी यह कहानी सद्भाव या मानवीय मूल्यों को बचाये रखने का कोई रोमानी दस्तावेज नहीं उकेरती बल्कि यह समाज में फैले उन अन्तर्विरोधों को रेखांकित करती है जिनके कारण भारतीय समाज 'घर-वापसी', 'लव-जेहाद' जैसे जुम्लों के साथ आज भी बँटा हुआ है। अन्धी और क्रूर साम्प्रदायिकता द्वारा अनजान लोगों के बीच फैलाई गयी पशुता, अमानवीयता तथा हिंसा की भर्त्सना इसके पाठ की अन्तर्ध्वनि बनती है, जिसकी परिणति आगे चलकर इनके चर्चित उपन्यास 'तमस' में होती दिखाई पड़ती है।

भीष्म समय के जरूरी सवाल को फैशन या फॉर्मूलों के तौर पर नहीं प्रतिबद्ध लेखकीय क्रम के साथ जाँचते-परखते हैं। यहाँ आशय अस्मितामूलक विमर्शों में उभरी 'अन्य' की अवधारणा में शामिल सामान्य जनों से है। 'सड़क पर' कहानी में उच्च वर्ग के लोगों को अपनी छाया तक से बचाने हेतु रास्ते में किनारे-किनारे चलने वाले एक दलित की व्यथा का अंकन होता है तो 'जोत' और 'खून की छींटे' में कृषक समाज की त्रासदी शब्द पाती है। प्राकृतिक आपदा के साथ सामन्ती साहूकारों और आधुनिक अफसरों की चक्की में पीसते जानकू (जोत) तथा गरीबी से लाचार होकर चचेरे भाई को पागल बनाते किसान की पीड़ा को इसमें सुना जा सकता है। इसी के साथ मार्क्स के कथन 'इतिहास का जिसे लेशमात्र भी ज्ञान है वह जानता है कि स्त्री-जीवन के खमीर बिना महान सामाजिक परिवर्तन असम्भव है। सच्ची बात तो यह है कि सुन्दरियों की (जिनमें असुन्दरियाँ भी आ जाती हैं।) सामाजिक स्थिति से समाज की स्थिति को सही तरीके से नापा जा सकता है।'<sup>11</sup> (मार्क्स का 12 दिसम्बर, 1886 को कुगेलमान को लिखा पत्र) Anybody who knows anything of history knows that great social changes are impossible without the feminine ferment Social progress can be measured exactly by the social position of the fair sex (the ugly ones included) को चरित्रार्थ करते हुए कहानियों की बड़ी खेप स्त्री-जीवन की विद्रूपताओं, विडम्बनाओं, विसंगतियों का संसार लिये आती हैं। 'घर-बेघर', 'क्रिकेट मैच', 'फूलों', 'गंगो का जाया', 'माता-विमाता', 'अपने-अपने बच्चे', 'रास्ता', 'कंठहार', 'पाली', 'चीफ की दावत', 'भेंट' (अनूठे साक्षात), 'डायन', 'कठधरे', 'निशाचर', 'अभी तो मैं जवान हूँ', 'सागमीट', 'ललीता' आदि कहानियाँ लेखक के निराग्रही स्त्री-विमर्श का उदाहरण बनती हैं। पर इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भीष्म साहनी स्वयं को कोई फ़ैमैनिस्ट रचनाकार नहीं मानते। वे कहते हैं कि 'समाजोन्मुख दृष्टि से लिखने वाले लेखकों

का ध्यान अनिवार्यतः स्त्रियों के प्रति किए जाने वाले अन्यायपूर्ण व्यवहार की ओर जायेगा। इसका यह मतलब नहीं है कि स्त्रियों का अपना व्यवहार अन्यायपूर्ण नहीं हो सकता, पर कुल मिलाकर देखें तो समाज में जहाँ पुरुष का वर्चस्व हो, स्त्री उस पर आश्रित हो जाती है, उसकी सनक के रहम पर जीती है। ऐसा पितृसत्तात्मक समाज के नियमों के परिणामस्वरूप होता है।<sup>12</sup> अर्थात् साहनी इसे विमर्श की भाँति नहीं, यथार्थ-निरूपण के रूप में ही आफत करते हैं। विभिन्न परिवेशों, श्रेणियों के मध्य स्त्री-संघर्षों, दबावों की उपस्थिति होती है। 'सागमीट' कहानी जितनी जग्गा की है, मालकिन श्रीमती सुमित्रा के रूप में उतनी ही उन घरेलू स्त्रियों की भी बनती है जो उच्च वर्ग के पुरुष के साथ जुड़ते ही, पितृसत्तात्मक समाज में अपनी हाशिये कृत स्थिति को भूल उसी मानसिकता से ग्रस्त हो जाती है। तथा ऐसे में श्रमशील समाज की जीवनगत त्रासदियाँ उनके लिए गप्पबाजी का मसाला भी होती हैं। 'निशाचर' जमादार के डर से रात में कचरा बीनकर पेट भरने की कवायद करती औरतों की कहानी कहती है। कुप्रीन के प्रसिद्ध उपन्यास 'यामा द पीट' हिन्दी अनुवाद, गाड़ीवालों का कटरा या अमृतलाल नागर की रचना 'ये कोठेवालियाँ' या फिर मधु काँकरिया की कृति 'सलाम आखिरी' में अंकित वेश्या-जीवन का दर्द 'अभी तो मैं जवान हूँ' के सात-आठ पृष्ठों में सिमट और अतल और मार्मिक हो जाता है। ढलते यौवन के साथ गिरती माँग का समीकरण इस दुनिया के अँधेरे कोनों की टोह लेता है। वस्तुतः मातृत्व की अवधारणा से बँधा स्त्री-जीवन का प्रत्येक चरण साहनी के कथा संसार को समृद्ध बनाता है। बाँझ स्त्री की बेचारगी (घर-बेघर), जन्मदात्री और पालक माँ के मध्य का तनाव (माता-विमाता, पाली) तथा बूढ़ी माँ की संवेदनाएँ (चीफ की दावत, भेंट, धरोहर) बिना किसी स्त्रीवादी चिन्तन का नारा लगाये, नया विमर्श रचती हैं। पुरुषसत्तात्मक समाज में जमें अन्तर्विरोधों को बयाँ करती हैं। 'अब घर का फालतू सामान आलमारियाँ के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा। तभी शामनाथ के सामने सहसा एक अड़चन खड़ी हो गयी, माँ का क्या होगा?'<sup>13</sup> चीफ की दावत का यह आरम्भिक प्रसंग आज के धन (पूँजीवाद) की बिसात पर बेमानी होते कल, टूटते रिश्तों के साथ-साथ पुरुषसत्तात्मक समाज में स्त्री की दीन स्थिति को दर्शाता है। जिसकी परिणति उनके बहुचर्चित और सुप्रसिद्ध नाटक 'माधवी' में होती है। सृष्टि के संचालन से जुड़ा मातृत्व का दायित्व किस प्रकार पुरुषसत्ता के उत्तराधिकार भाव की राजनीति में फँसकर स्त्री-जीवन का द्वन्द्व और बहुत बार अभिशाप का सबब साबित होता है, इसे कई कहानियाँ कई कोणों से परखती हैं। कहानीकार की कला यही है कि वह अपने समय की बीमारी को पहचान, दुखती रंग को पकड़ ले। 'क्रिकेट मैच' की पुष्पा के पति रमेश का बयान है कि 'एक बच्चे का मतलब है साल-भर का आराम और छुट्टी। अब महीने-दो महीने में यह मायके चली जायेगी और इसके मायके कलकत्ते में हैं।' तथा कहानी का अन्त- 'फिर नजर नीची करके अपनी काँपती

उँगलियों से स्वेटर बुनने लगी। मैच फिर शुरू हो गया था। और पीछे से हँसी-मजाक की आवाजें बराबर आ रहीं थीं।<sup>14</sup> पुरुष की अय्याश जिन्दगी और स्त्री के प्रतिरोध करने की अक्षमता का परिचायक बन जाते हैं।

मार्के की बात है कि रचनाकार के रूप में भीष्म साहनी, प्रेमचन्द के समय से कथादोष के रूप में अंकित निष्कर्ष निकालने की प्रथा से स्वयं को सहज ही बचा ले जाते हैं। इब्सन ने भी कहा है, 'मेरा सरोकार केवल सवाल उठाना है, उनका उत्तर देना नहीं।'<sup>15</sup> इनकी कहानियाँ कोई दिवास्वप्न नहीं बुनती, न उत्तर देती हैं और न ही कोई बड़ी उम्मीद जगाती हैं। आलोचनात्मक फासले के साथ ये कहानियाँ पाठक के समक्ष केवल प्रश्न खड़े करती हैं। कलात्मक स्तर पर सतहीपन के आरोपों के बावजूद इनमें परिस्थितियों, मनःस्थितियों की गहरी पड़ताल दिखती है। कहानियों में उभरे विवरण मात्र वर्णन नहीं लगते, उनमें मनुष्य के हाव-भाव, सोच-विचार, संघर्ष के मर्तन की वे उन्नत सम्भावनाएँ मिलती हैं, जिनके बल पर ये कहानियाँ अपने समय और समाज की सीमा लौंघ सहज ही पाठक के समय, समाज और संघर्ष से तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं तथा भीष्म साहनी को एक कालजयी और संघर्षचेता रचनाकार बनाती है।

### सन्दर्भ सूची

1. मेरे साक्षात्कार, भीष्म साहनी, पृ. 67, 118
2. The Triple thinkers, Edmund Wilson, p. 223
3. साहित्य, साहित्यकार और प्रेम, गोविन्द मिश्र, पृ. 115
4. वांग्चू, पृ. 103
5. Criticism and Ideology : Study in Marxist Literary Theory, Terry Eagleton, p. 101
6. भीष्म साहनी : व्यक्तित्व और रचना, राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर, पृ. 10
7. भाग्यरेखा, पृ. 94
8. भीष्म साहनी : व्यक्तित्व और रचना, राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर, पृ. 246-244
9. वांग्चू, पृ. 54, 56
10. Literature and Art, Marx and Engels, p. 44-45
11. Marx and Engelson trade Unions, EdI Kenneth Lapides, p. 65
12. मेरे साक्षात्कार, पृ. 86
13. पहला पाठ, भीष्म साहनी, पृ. 9
14. भाग्यरेखा, पृ. 55-56
15. समकालीन यथार्थवाद, जार्ज लूकाच, पृ. 65।